जाति–प्रथा

१९८१

चौधरी चरण सिंह

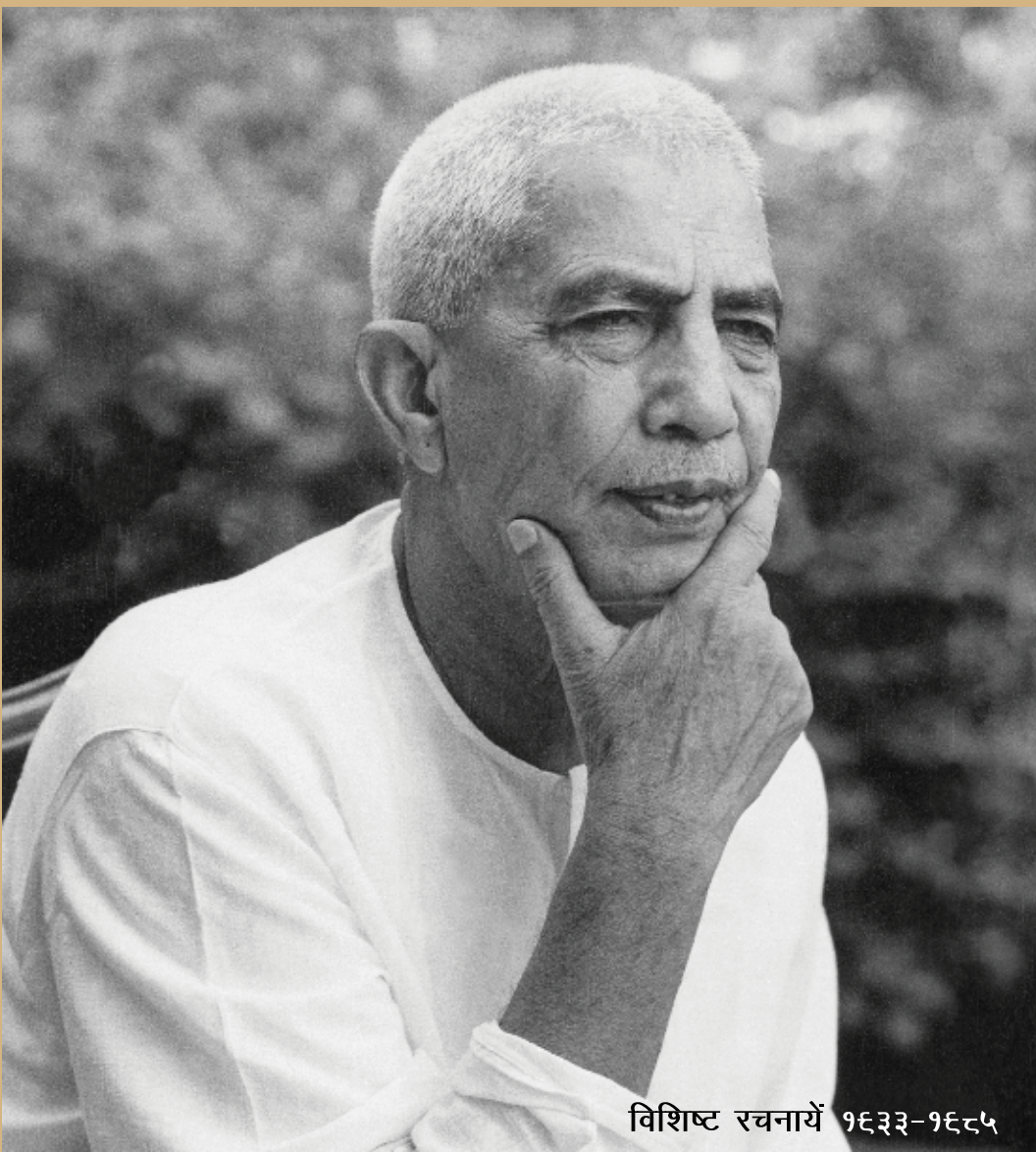

विशिष्ट रचनायें १९३३–१९८५

२६ जनवरी २०२२
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.org
info@charansingh.org

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

चरण सिंह के पिता मीर सिंह तथा माता नेत्र कौर, १९५०

चरण सिंह का जन्म २३ दिसंबर १९०२ को "एक साधारण किसान के यहां छप्पर छवाये मिट्टी की दीवारों से बने घर में हुआ था, जहां आंगन में एक कुंआ था, जिसका पानी पीने और सिंचाई के काम आता था।"[1] संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के मेरठ जिले के नूरपुर गांव में एक पट्टेदार गरीब किसान की कच्ची मढ़ैया में पैदा हुआ यह शिशु आज़ाद भारत में देहात की बुलंद आवाज बना।

---

* चरण सिंह के अपने शब्दों में

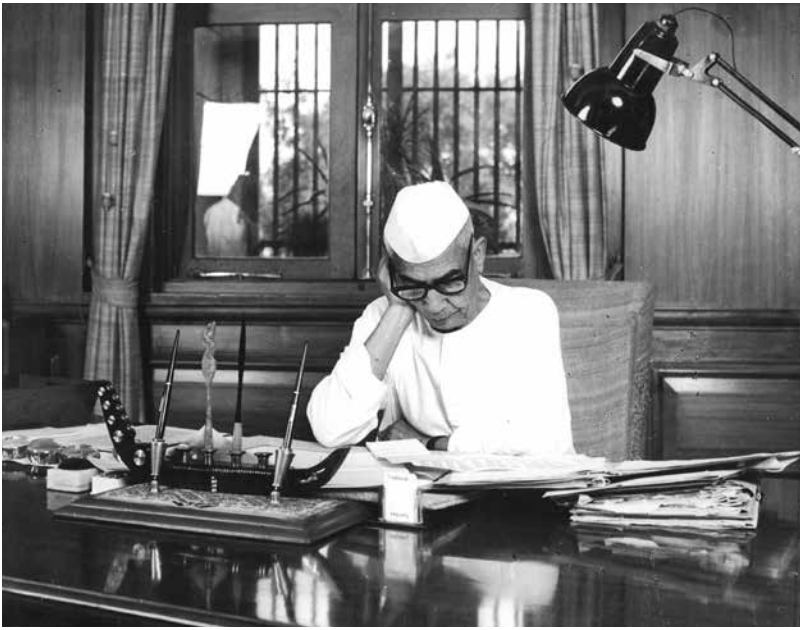

चौधरी चरण सिंह
भारत के प्रधान मंत्री। दिल्लीं, १९७९

ग्रामीण भारत के जैविक बुद्धिजीवी

१
जाति–प्रथा

यह लेख चौधरी चरणसिंह की पुस्तक 'इकॉनोमिक नाइटमेअर ऑफ इंडियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर' के अध्याय 'एपेंडिक्स' (उपसंहार) से उद्धृत है, जो कास्टिज्म (जातिवाद) उप–शीर्षक से लिखा गया है।

चौधरी साहब जीवन में जिन सामाजिक कुरीतियों के घोर विरोधी रहे उनमें से एक थी–जाति–प्रथा। उनके अनुसार जाति–प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण रही। जाति प्रथा से आक्रांत भारतीय समाज राजनीतिक एकता के अभाव में विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला एकजुट होकर नहीं कर सका। यही नहीं, भारतीय समाज आज भी जातीयता के अभिशाप से मुक्त नहीं हुआ है। चौधरी साहब ने इस लेख में जातिवाद के दुष्परिणामों का ब्यौरा विस्तार से दिया है।

हमारी सांस्कृतिक विरासत का प्रभावशाली भाग, जाति–प्रथा एक ऐसा रिवाज अथवा संस्था है जो बहुत पुरानी पड़ गई है। आज जाति–प्रथा हिन्दू मस्तिष्क के अंतःनिर्मित लक्षणों में से एक लक्षण है और यह लक्षण कुछ हद तक भारतीय है। जैसे–जैसे समय बीतता गया, जाति–प्रथा का प्रसार होता गया। प्राचीन उपदेश धुंधले पड़ते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज की चार जातियां, जिनकी कि आरम्भ में ही संकल्पना की गई थी और जो मानव के गुण, कार्य और अभिवृतियों पर आधारित थीं, सैकड़ों जातियों और हजारों उपजातियों में विभाजित हो गईं, जिनमें नव–दीक्षित व्यक्तियों ने हिन्दू आवरण में स्थान पा लिया। नयी जातियों के साथ क्रियात्मक कौशल को मिलाने का तरीका सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने का विलक्षण मार्ग था। इस प्रकार हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नवागन्तुक की आर्थिक स्थिति आश्वस्त हो जाती थी और यह स्थिति उस समय तक इस क्षेत्र में बनी रही, जब तक कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आर्थिक आधार स्थायी बना रहा। इस प्रथा ने कमज़ोर और असफल व्यक्ति के लिए सामाजिक बीमा जैसी सेवा की। समाज के प्रत्येक व्यक्ति

को बजाय इसके कि उसे भंवर में फेंक दिया जाए, समाज में अपने स्थान का ज्ञान था और उसके पास रहन–सहन का ऐसा साधन था, जो उसके अपने पड़ोसी की प्रवृत्तियों की पकड़ अथवा अनाधिकार हस्तक्षेप से सुरक्षित था। चार वर्गों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में कार्यों और शक्ति का विभाजन इस प्रकार किया गया था और एक वर्ग के हित अन्य वर्गों से इतने अलग थे कि समाज पर उनका नियंत्रण किसी भी वर्ग अथवा व्यक्तियों के दल के हाथों में एकत्रित नहीं हो सका, जैसा कि आज कम्युनिस्ट अथवा शुद्ध पूंजीवादी समाज में हो जाता है। जाति–प्रथा समाज के संगठन के प्रयत्न को परिलक्षित करती है, जिसके सिद्धान्त नियंत्रण, संतुलन, शक्तियों का विभाजन और सर्वसत्ता के विस्तार पर आधारित हैं।

परन्तु आज जाति–प्रथा भारतीय समाज को प्रत्यक्ष रूप से टुकड़ों–टुकड़ों में विभाजित कर रही है और यही जाति–प्रथा सामान्य आर्थिक प्रयत्न में बहुत बड़ी बाधा बन गई है। जाति की सदस्यता जीवन पर्यन्त रहने और विवाह के लिए एक साथी का पैतृक चयन, अपनी ही जाति के सदस्यों तक सीमित रह जाने और जाति से बाहर के लोगों द्वारा पकाए हुए भोजन का सेवन अथवा उनके साथ बैठकर भोजन करने पर प्रतिबंध लग जाने, यहां तक कि उन्हें स्पर्श करने पर भी प्रतिबंध लग जाने से जाति–प्रथा विभाजन और विखंडन के नियम पर आधारित जीवन के संगठन का आधार बनी हुई है, जिसके सम्बंध में किंग्सले ने इस प्रकार कहा है "जाति–प्रथा मानवीय इतिहास में परिचित सबसे सम्यक् प्रयत्न है, जिसने सामाजिक सम्बंधों के मार्गदर्शी नियम के रूप में नितांत असमानता प्रारम्भ की है।"[1] ऐसे समाज में सामुदायिक परियोजनाएं बेतुका विरोधाभास हो जाती हैं, जो सामुदायिक जीवन के सम्पूर्ण सिद्धान्त का बिल्कुल ही निषेध करती हैं अथवा यह समाज इन परियोजनाओं को एक बहुत ही संकीर्ण परिधि में सीमित कर देता है। एक प्रमुख चिंतन का उद्धरण देकर यह कहा जा सकता है, यह एक सुखद घटना ही है कि "सजीव और निर्जीव पूर्ण विश्व की एकता पर बल देने वाले भारत ने एक ऐसी सामाजिक पद्धति विकसित कर ली है, जिसने उसके देशवासियों को अलग–अलग उपखंडों में बांट दिया है। जाति–प्रथा ने उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया है। यह जाति–प्रथा पीढ़ी–दर–पीढ़ी अनन्त शताब्दियों से चली आ रही है और इसी प्रथा के कारण विदेशी आक्रमण सफल हुए

---

[1] 'पॉपुलेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमेरिका, १९५१, पृष्ठ १७०.

हैं जिसके फलस्वरूप भारत कमजोर और गरीब होता गया है।"

वंशानुगत व्यवसाय की संकल्पना क्रियाशील अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध स्वतंत्र अवसर, मुक्त प्रतियोगिता और वैयक्तिक गतिशीलता के विचार से बिल्कुल ही भिन्न है। यह तथ्य है कि जापान भारत की अपेक्षा जाति–प्रथा में कम रूढ़िवादी रहा। इसके साथ ही साथ वह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जापान अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से औद्योगीकृत हो सका। भारत में मनुष्य की जाति अपरिवर्तनीय है। यह जाति–प्रथा व्यक्ति को निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है अथवा आरोपित करती है और वस्तुतः कठिन परिश्रम द्वारा उन्नति की सम्भावनाओं को कम करती है। एक मनुष्य अपना धर्म बदल सकता है लेकिन अपनी जाति नहीं बदल सकता।

इसके अलावा जाति–प्रथा प्रत्येक हिन्दू मस्तिष्क में बचपन से ही ऊंच–नीच, उत्कृष्टता–निकृष्टता के बीज बो देती है और कतिपय जातियों के सदस्य होने का यदि किसी को लाभ है, तो अन्य जातियों के सदस्य होने से उसे हानि उठानी पड़ती है। जाति–प्रथा श्रम की प्रतिष्ठा की संकल्पना के विरुद्ध कार्य करती है। शारीरिक श्रम को अधम समझा जाता हैः यह अधिक सम्मानजनक स्थिति है कि पर्यवेक्षण के अलावा कुछ भी न किया जाए और दूसरे लोगों को कठिन परिश्रम करने दिया जाए। अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है कि "जिसके पास खेती है, उसे ही हल चलाना पड़ता है और इससे सम्बंधित अन्य शारीरिक कार्य करने पड़ते हैं।" लेकिन भारत के कतिपय भागों में कुछ ऐसी ऊंची जातियां हैं, जिनके सदस्य स्वयं हल भी नहीं चलाएंगे और उनकी स्त्रियां भी कभी दूध नहीं दुहेंगी। जो व्यक्ति बिल्कुल भी काम नहीं करते अथवा तुलनात्मक रूप से कम काम करते हैं वे सामाजिक स्तर में सबसे ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं और जो व्यक्ति अपेक्षाकृत सबसे अधिक काम करते हैं वे सामाजिक स्तर पर निचला स्थान प्राप्त करते हैं। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि यद्यपि हमें अपने पूर्वजों से अधिक कुछ सीखने को मिला है, फिर भी भारत इतना गरीब है।

यह जाति–प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण है। जाति–प्रथा से आक्रान्त समाज की कमजोरी विशाल क्षेत्र में राजनीतिक एकता को स्थापित नहीं करा पाती और वास्तव में किसी आक्रमण के समय हमें हतोत्साहित कर देती है, इसलिए भारत को शायद ही किसी विदेशी ने सैन्य–शक्ति का सहारा लेकर देश जीतने के विचार की आवश्यकता महसूस की हो।

उसने भारत को हाथ–पांव से सदैव बंधे हुए पाया है और भारतीय किसी भी विदेशी आक्रमण का बिना किसी संघर्ष अथवा थोड़े ही संघर्ष

से स्वागत करने के लिए तैयार रहे हैं। भारत को किसी भी विदेशी से द्वेष नहीं रहा है, क्योंकि उनमें देशभक्ति अथवा राष्ट्रीय एकता की कोई समझ नहीं रही है। कोई भी भारतीय नहीं था और इसलिए तर्क–सम्मत ढंग से कहा जाए तो कोई विदेशी नहीं था।

देशभक्ति के विचार उन देशवासियों अथवा व्यक्तियों की पूर्व–कल्पना करा देते हैं जो किसी ऐसे समुदाय में पाए गए हैं, जिसे एक बड़ा परिवार कह सकते हैं। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक होता है कि वे अपने देश को जन्म–भूमि अथवा जननी मानें। परन्तु यदि किसी समुदाय में हजारों जातियों और उपजातियों के लोग हैं जिनके कोई सामान्य तथा परस्पर जुड़े हित अथवा महत्त्वाकांक्षाएं नहीं हैं और कभी भी वे सामाजिक स्तर पर नहीं मिलते, तो देशभक्ति अथवा देशप्रेम ऐसे समाज में सरलता से जड़ नहीं जमा सकता।

यह सही है कि राष्ट्रीयता का प्रमुख लक्षण यह है कि उसका समान धर्म हो और उसके द्वारा उत्पन्न भाईचारे तथा सामान्य हित की समझ हो। सारे देश में हिन्दूवाद फैला हुआ था और इसी हिन्दूवाद में ऐसे पोषक तत्त्व थे, जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता का उदय हो सकता था। इसके बाद भी विदेशी आक्रमण, एक के बाद दूसरे, होते रहे और यह क्रम शताब्दियों तक बना रहा। इन सभी से मुख्य रूप से यह दबाव आया, जिससे सम्भवतया देशभक्ति के बीज का विकास हो सकता था। परन्तु ये आशाएं झुठला दी गईं। हिन्दूवाद देशभक्ति में भी परिवर्तित नहीं हो सका और किसी भी आक्रांता के विरुद्ध संगठित भारत की भावना उत्पन्न करने में असफल रहा, जिसका कारण यह है कि भारत को जाति–प्रथा ने बहुत कमजोर बना दिया था।

मुगलों ने बिना किन्हीं स्पष्ट साधनों के भारत को जीत लिया। बाबर भारत में घुस आया और उसके पीछे कोई भी सशक्त राष्ट्र नहीं था अथवा वह किसी सशक्त राज्य के संगठन पर ही आश्रित नहीं था; फिर भी वह एक आश्चर्य पैदा करने में सफल रहा अर्थात् उसने मुगल साम्राज्य की नींव डाली, जो दो शताब्दियों तक बनी रही। यह चमत्कार इस लिए सम्भव हो सका, क्योंकि इस देश में रहने वाले करोड़ों हिन्दुओं ने एक राष्ट्र के रूप में मिल–जुलकर विचार करने की आदत का विकास नहीं किया था। हिन्दू जो मात्र व्यक्तियों के जनसमूह अथवा दलों के समूह के रूप में थे, वे आपस में किसी सामान्य भावना अथवा हित से बंधे नहीं थे और अपने पूर्व आक्रमणकारियों मुहम्मद गजनवी से लेकर बाद के आक्रमणकारियों तक केवल इसलिए परास्त होते रहे, क्योंकि उन्हें उदासीन बने रहने अथवा आपस में लडने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा।

यही कहानी ब्रिटेन की विजय की दशा में भी दोहराई गयी। जब मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत की राजसत्ता धूलि–धुसरित हो चुकी थी, उस समय देश के अधिकांश भाग को मराठों ने हथिया लिया। यह उनकी शक्ति में था कि वे भारत को एकता के सूत्र में बांध लें परन्तु वे इसलिए असफल रह गए, क्योंकि उन्होंने देश के समग्र हितों के समक्ष अपने संकीर्ण हितों को प्रमुख समझा। एक भारत का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आया। केवल इतना ही नहीं, वे एक संगठित मराठा राज्य बना लेने में भी असफल रहे और शीघ्र ही पांच उपराज्यों में विभाजित हो गए, जिनका आधार अलग जाति या उपजाति थी। मराठा सशक्त राज्य बनाने में क्यों असफल रहे, इस प्रश्न के उत्तर में सर यदुनाथ सरकार ने हिन्दू जाति–प्रथा को एक मुख्य कारण बताया है। यद्यपि शिवाजी का अपना आचरण धर्म के मामलों में बहुत उदार था फिर भी उनकी विजय और वाजीराव प्रथम की विजय ने हिन्दू रूढ़िवादिता के पक्ष में प्रतिक्रिया पैदा कर दी, जिससे वर्ग विभेद और प्रतिदिन के धार्मिक समारोह की शुद्धता बढ़ गईः

> "१८वीं शताब्दी के मराठों ने अपनी स्वतंत्रता से उत्पन्न की गई सुरक्षा, शक्ति और सम्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम अत्याचार के पुराने तथ्य भुला दिये। उनकी सामाजिक श्रेणियां एक–दूसरे के विरुद्ध हो गईं। सह्याद्रि पर्वत श्रेणियों के पूर्व में रहने वाले ब्राह्मणों ने पश्चिम में रहने वालों को हिकारत की नजर से देखा और पहाड़ियों में रहने वाले व्यक्तियों ने मैदान में रहने वाले अपने भाइयों की उपेक्षा की, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें दंडित किए जाने का कोई भय नहीं था। राज्य का प्रमुख पेशवा ब्राह्मण था। उसके ब्राह्मण नेता ही उसकी उपेक्षा करते थे, क्योंकि वे जाति की अन्य शाखाओं के थे, जिसका कारण यह था कि पहले पेशवा के परदादा कभी समाज में छोटी जाति के थे, जबकि देशस्थ ब्राह्मणों के परदादा के परदादा उच्च कुलीन थे। जिस समय चितपावन ब्राह्मण देशस्थ ब्राह्मणों के साथ सामाजिक युद्ध कर रहे थे, उस समय ब्राह्मण मंत्रियों और गवर्नरों तथा कायस्थ सचिवों के बीच में तीखा द्वेष उभरने लगा। इस स्थिति का परिचय हमें शिवाजी के शासनकाल से ही विदित होता है।"[2]

हिन्दू अथवा भारतीय समाज के इसी विभाजन से असंख्य टुकड़े हो गए जबकि अंग्रेज जाति में कोई ऐसी श्रेष्ठता भी न थी, फिर भी उनके लिए

---

[2] 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स', यदुनाथ सरकार (तेरहवां संस्करण), पृष्ठ ३७४–७५, एम० सी० सरकार एण्ड जेम्स लिमिटेड, कलकत्ता द्वारा १९५२ में प्रकाशित।

भारत में साम्राज्य स्थापित करना सम्भव हो गया। इंग्लैंड ने भारत को जीत लिया और भारत पर शासन किया। यह शासन उन्होंने भारतीय सैन्यदल की सहायता से किया और इस सैन्यदल को भारतीय राशि का भुगतान किया। १७७३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ५४,००० सिपाही थे जिनमें से ९,००० अंग्रेज थे। १८१८ में यह संख्या क्रमशः १,६०,०००, जिनमें अंग्रेज सिपाही मात्र २५,००० थे, हो गई; १८५७ में २,८०,००० और ४५,००० हो गई। 'भारतीय' शब्द भ्रामक था। वे या तो हिन्दू थे या मुसलमान थे। वास्तव में उनमें से कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं था; ये सैनिक दल इस नाम से पहचाने जाते अथवा पहचाने जा सकते थे परन्तु इनमें भावनात्मक बंधन बहुत कम था या बिल्कुल ही नहीं था, जो उन्हें एक–दूसरे से बांध सके; वे कुलीन राजपूत, मराठा जाट या सिख थे।

यही रूढ़िवादी जाति–प्रथा ऐसी थी जिसने ऊंच–नीच के विचार पैदा कर दिये थे, जिसके फलस्वरूप लाखों हिन्दू अन्य धर्मविलम्बियों में परिवर्तित हो गए, जबकि सत्य यह है कि अन्य धर्मों के आध्यात्मिक उपदेश हिन्दू धर्म के उपदेशों से किसी भी दशा में श्रेष्ठ नहीं थे। यह केवल मानवीय प्रकृति है कि तिरस्कृत जातियों के सदस्यों ने उन अन्यायों और अत्याचारों का विरोध किया, जिनसे व्यावहारिक जीवन में उन्हें सार्वजनिक तिरस्कार का तीखापन मिला था। उन्होंने इसका प्रतिकार करने के लिए प्रतिशोध की भावना से गिरजाघर जाकर अन्य धार्मिक विश्वासों का सहारा लिया। इस परिस्थिति की विडम्बना इस तथ्य में निहित है कि जिन मनुष्यों को अपने जन्म के कारण अपने ही सहधर्मियों से तिरस्कृत होना पड़ा था, उन्हें नये धर्माविलम्बियों ने बराबर की मान्यता उसी समय प्रदान की, जैसे ही उन्होंने अपने बाप दादाओं के धर्म का परित्याग कर दिया।

जाति–प्रथा के कारण ही भारत के विभिन्न धार्मिक समूह सामाजिक और राजनीतिक रूप से एक–दूसरे के समीप नहीं आ सके और एक सुदढ़ समाज का निर्माण नहीं हो सका। इस जाति–प्रथा ने अन्ततोगत्वा देश का विभाजन ही किया है। जब इस प्रथा से एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से अलग रहता है, तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि समुदाय के रूप में हिन्दू–गैर हिन्दुओं को अपने आम सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों में सहन कर सकें अथवा प्रोत्साहित कर सकें। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से विश्वसनीय प्रतिज्ञापन के बावजूद मुसलमानों को यह आशंका बनी रही कि ब्रिटिश लोगों के चले जाने के बाद उन्हें हिन्दू बहुमत से सही व्यवहार नहीं मिलेगा, क्योंकि हिन्दू बहुमत अपने ही सहधर्मियों के साथ बराबर का व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद ने ब्रिटिश जनसमुदाय

के प्रति आम निंदा को प्रोत्साहित किये जाने के बाद फिर भी, उसने अपने आप में ही सदैव संघर्ष के चिह्न देखे हैं।

९ अगस्त, १९६६ को लेखक को श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक पत्र लिखने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसमें कहा गया है:

> पंजाब से सम्बंधित १९३१ की जनगणना के आंकड़ों के संदर्भ से यह विदित होता है कि "१८८१ में इस प्रांत के हिन्दुओं की संख्या ४३.८ प्रतिशत से घटकर ३०.२ प्रतिशत रह गई, जबकि सिक्खों की संख्या ८.२ प्रतिशत से बढ़कर १४.३ प्रतिशत हो गई और मुसलमानों की संख्या ४०.६ प्रतिशत से बढ़कर ५२.४ प्रतिशत हो गई है।" जनसंख्या रिपोर्ट के अनुसार इसके कारण जाट और सैनी जैसी कृषक जन–जातियों और चमार और चुहड़ा जैसी अछूत समझी जाने वाली जातियों के प्रति उच्च वर्ण के हिन्दुओं की अभिवृत्ति में निहित है। 'जाटों' का सबसे बड़ा समुदाय था और उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया बता दी, क्योंकि तथ्य यह है कि पंजाब 'जाटों का घर' माना जाता है। यह प्रतिक्रिया निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है:

rkfy dk

tkV tuh[;k

(हजारों में)

धर्म	१८८१		१९३१	१८८१ से १९३१ तक न्यूनाधिकता	
	वास्तविक		यह मानकर कि धर्म–परिवर्तन नहीं किया गया था	वास्तविक	यह मानकर कि धर्म–परिवर्तन नही किया गया था
हिन्द	१४४५	९९२	२०७६	– ४५३	–१०८४
सिख	११२३	२१३३	१६१४	+१०१०	+५१९
मुस्लिम	१६५५	२९४१	२३७८	+१२८६	+५६३

इन जाटों को यह पता लगा कि वे अपने ही राजपूत ब्राह्मण और खत्री भाइयों द्वारा हिकारत की नजर से देखे जा रहे हैं और उनके लिए यह सम्भव नहीं है कि वे अपनी जाति बदल सकें, पर उनके लिए यह अवश्य सम्भव है कि वे अपना धर्म–परिवर्तन कर लें। बहादुर सिपाहियों और ताकतवर किसानों का यह संवेदनशील समुदाय केन्द्रीय पंजाब में सिक्ख धर्म और पश्चिमी पंजाब में इस्लाम धर्म की ओर प्रवृत्त हो गया।

इसलिए गत पचास वर्षों की अवधि में हिन्दू जाटों की जनसंख्या बढ़ने की बजाय घटकर ३१.४ प्रतिशत रह गई है और सिक्ख जाटों तथा मुस्लिम जाटों की संख्या बढ़कर क्रमशः ९०.० प्रतिशत और ७७.८ प्रतिशत हो गई है। इस प्रकार १८८१–१९३१ की अवधि में हिन्दू समाज को हिन्दू जाटों के धर्म–परिवर्तन के कारण १०,८४,००० व्यक्तियों की हानि हुई है। (लेखक यहां यह भी कहना चाहेगा कि चूंकि सिक्ख पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धांत में विश्वास करते हैं, जो हिन्दू धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए वह उन्हें हिन्दुओं से अलग नहीं मानता।)

अन्य हिन्दू समुदायों ने भी जाटों के समान अपनी प्रतिक्रिया दिखाई लेकिन अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय, जो पंजाब के पश्चिमी भागों में अपने घर छोड़कर भाग गए और दिल्ली तथा उत्तरी भारत के अन्य नगरों में जा बसे, वे आज भी जाटों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के प्रति तिरस्कार से बात करते हैं और उनसे वैसा ही व्यवहार करते हैं। जाटों और पिछड़ी जातियों की शक्ति–संरचना में कोई अधिकार नहीं है, यह बात सर्वविदित है। ऊंची जाति के हिन्दुओं ने कोई भी शिक्षा नहीं ली है और शायद वे कोई शिक्षा लेंगे भी नहीं।

पंजाब में जिस प्रकार के विकास हुए, लगभग उन्हीं कारणों से बंगाल में भी उथल–पुथल हुई। वहां १८७१ में हिन्दू और मुसलमान जनसंख्या लगभग समान थी। छः दशकों की अवधि में १९३१ तक राज्य की कुल जनसंख्या में हिन्दू घटकर ४३.५ प्रतिशत रह गए और मुसलमान बढ़कर ५४.४ प्रतिशत हो गए। इसका परिणाम क्या हुआ? विज्ञान और साहित्य के प्रकांड विद्वानों के सभी ज्ञान और राजनीतिक क्रांतिकारियों के समस्त बलिदान, जो कि बंगाल ने अंग्रेजी शासन के दौरान दिये थे, वे सब क्षीण और जातिग्रस्त समाज में, जिसके वे अंग थे, निरर्थक हो गए। १९४७ में देश का विभाजन हुआ और बाद के वर्षों में इन्हें और इनके बच्चों को पूर्वी बंगाल में स्थित अपने पूर्वजों के घरों और निवास स्थानों से भागकर अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिए पश्चिम बंगाल और आसाम में शरण लेनी पड़ी।

आज के हिसाब में १९६१–७१ की अवधि के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों की जनसंख्या बढ़कर क्रमशः २३.११ और ३०.८४ प्रतिशत हो गई है। ईसाइयों की जनसंख्या भी लगभग मुसलमानों की जनसंख्या की दर के बराबर बढ़ी है। जन्म–दर की असमानता, वृद्धि की दरों की असमानता की एक कारक हो सकती है, विशेषकर जहां तक मुसलमानों का सम्बन्ध है; लेकिन हिन्दुओं की सामाजिक पद्धति से इसका प्रमुख कारण कुछ और ही है।

पाकिस्तान बनने के पूर्व इस प्रकार के संकेत थे कि हिन्दू अपनी अवनति के प्रति सजग हैं। उन्होंने अपने धर्म की ओर से सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। सामाजिक सुधार आन्दोलनों, यथा–आर्य समाज ने हिन्दूधर्म को अपने हितों की साधना में आधुनिक दृष्टिकोण प्रदान किया था। यह आशा की जाती थी कि देश के विभाजन का तथा जिसने भारतीय सीमाओं पर दो बार–अर्थात एक बार १९४७ में और दूसरी बार १९७२ में दो प्रमुख मुस्लिम राज्यों को जन्म दिया, निस्संदेह जाति–पांति तोड़ने में गति ला सकेगा और यदि यह तथ्य कुछ भी न करे तो कम से कम हिन्दू धर्म तेजी से एकता की ओर बढ़ने में अधिक संगठित होगा जैसा कि गत वर्षों में कभी नहीं हुआ था। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। आर्य समाज जैसे संगठन और स्वामी दयानन्द जैसे अन्य व्यक्तियों की उत्साहवर्धक सुधार–भावना जाति–प्रथा की चट्टानों से टकराकर चूर–चूर हो गई। इन्होंने अपनी शक्ति कम कर डाली और जो वास्तविक समस्या थी, वह वहीं–की–वहीं बनी रही। वास्तव में स्वार्थी राजनीतिज्ञों के कारण जातिवाद ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया है और पहले से अधिक सामाजिक कटुता पैदा की है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू जनसंख्या उत्तरोत्तर कम हुई है और कम होती जा रही है।

जब इस पुस्तक का (मूल) अंग्रेजी संस्करण मुद्रणाधीन था तब १३ अप्रैल १९८१ के 'इण्डियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली में तेन्कासी (जिला तिरुनवेली) के संवाददाता द्वारा भेजी गई निम्नलिखित सूचना प्रकाशित हुई थी:

> मीनाक्षीपुरम को अब ग्रामीणों के बहुमत से रहमत नगर के नाम से पुकारा जाने लगा है। यह पोथी पंचायत का खेड़ा है और तेन्कासी से लगभग १० किलोमीटर दूर है।
>
> यहां यकायक आम धर्म–परिवर्तन हुआ है। १५० हिन्दू हरिजन परिवारों ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया है अर्थात लगभग १,००० लोग इस्लाम के प्रति वफादार हो गए हैं। अन्य ५० परिवार कोडाई मन्दिर के वार्षिक समारोहों के बाद अप्रैल के अन्त तक इस्लाम धर्म को अपना लेंगे। यह स्पष्ट है कि ये लोग अपने पुराने देवताओं के प्रति अपना कोई भी भाग शेष नहीं छोड़ना चाहते।
>
> ३५ वर्षीय श्री थांगराज, जिन्होंने मेडिकल कॉलेज की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी थी, उन्होंने कहा कि पुलिस के जुल्म ने उनका जीवन असहनीय बना दिया है। उन्होंने बताया कि "हरिजन केवल पापमय शब्द है। यद्यपि हमारी आर्थिक प्रतिष्ठा बढ़ी है लेकिन हमारी

सामाजिक प्रतिष्ठा से हमें वंचित कर दिया गया है।"

१९ फरवरी को मीनाक्षीपुरम में अधिक धूमधाम और शान–शौकत से एक उत्सव का आयोजन किया गया। लगभग ४,००० मुसलमान अपने परिवारों सहित पड़ोसी तेन्कासी, कडायानल्लूर, वेडाकारि, वावानगरम् और अन्य स्थानों से धर्म–परिवर्तन के उत्सव में आकर शामिल हुए। श्री शाहुल हमीद, विधानसभा सदस्य, कडायानल्लूर ने इसमें सक्रिय भाग लिया। इस्लाम धर्म के नेताओं ने भी इसमें अधिक संख्या में भाग लिया।

मीनाक्षीपुरम् के हरिजन अपने जिले के अन्य हरिजनों से भिन्न हैं। उनमें से ४० प्रतिशत से अधिक लोग शिक्षित हैं और उनमें से अधिकांश पर्याप्त धनी हैं। उनमें से ९० प्रतिशत लोग मेम्कारी के समीप थिरुवदुथुरै मट्ट भूमि में रजिस्टर्ड खेती करने वाले किसान हैं।

हरिजनों ने अपनी सुधरी हुई आर्थिक प्रतिष्ठा और साक्षरता की वृद्धि की दृष्टि से अन्य समुदायों के साथ विशेषकर थेवारों से बराबर की प्रतिष्ठा की मांग की है। परन्तु उनके साथ बुरा व्यवहार किया गया। उनका यह कहना है कि उनको होटलों में कॉफी तथा चाय देने के लिए अलग गिलासों का उपयोग किया गया है। उन्हें बसों में बैठने की अनुमति नहीं दी गई है, जबकि अन्य ऊंची जाति के हिन्दू उस बस में सवार थे। उनका समाज से बहिष्कार किया गया और उन्हें सताया गया।

कुछ व्यक्ति इस निष्कर्ष पर आ गए कि धर्म–परिवर्तन से उन्हें राहत मिलेगी। इसी समय मेम्कारी में दो व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। मृतक थेवर थे और हरिजनों को इस अपराध के लिए दोषी ठहराया गया। इसी समय जाली नोटों के छापने की मशीन का पता लगने से स्थिति और गम्भीर हो गई। शेनकोहै के थेवर पुलिस इन्स्पेक्टर ने जांच–पड़ताल शुरू की और यह कहा जाता है कि मीनाक्षीपुरम् के कतिपय हरिजन परिवारों को सताया गया और कतिपय हरिजनों को गैर कानूनी ढंग से एक महीने से अधिक समय तक हिरासत में रखा गया।

पुलिस के व्यवहार के प्रति आक्रोश दिखाते हुए तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए हरिजन इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गए।

लेखक इस स्थिति के बारे में मुस्लिम अथवा अन्य किसी समुदाय को तनिक भी दोषी नहीं ठहराना चाहता, हिन्दू स्वयं अपनी करनी के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने मृत्यु–इच्छा पैदा कर ली

है और उन्हें उनकी इस उत्कट इच्छा की पूर्ति से सम्भवतया कोई नहीं बचा सकता अर्थात् उन्हें आत्महत्या से कोई नहीं बचा सकता।

यदि आधी दर्जन जातियां अथवा इतनी ही उपजातियां होतीं और उन सभी में बराबर–बराबर सदस्य होते तो शायद जाति–प्रथा की संस्था के यहां तक कि उन्मूलन में इतनी कठिनाई नहीं होती। लेकिन अब सैकड़ों–हजारों जातियां अथवा उपजातियां हैं और उनके लोगों में तीखे अन्तर विद्यमान हैं, प्रायः एक ही जाति के सदस्यों के बीच में भी अन्तर है। उदाहरण के लिए, विभिन्न अलग–अलग अनुसूचित जातियों में भी सगोत्रता अथवा समता का कोई अर्थ नहीं है। इन्होंने भी जाति–प्रथा के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बाधाओं को समान रूप से भोगा है। एक बार महात्मा गांधी ने कहा था, "अछूतों में सभी प्रकार की श्रेणियों के लोग आपस में अछूत ही हैं। इनमें से प्रत्येक उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों को हेय समझते हैं, जैसा कि कुलीन हिन्दू जाति के लोगों ने अछूतों को नीच मानकर वातावरण को ही दूषित कर दिया है।"[3]

जाति–प्रथा की गहरी मनोवैज्ञानिक जड़ें होती हैंः एक मराठी कवि ने हिन्दू समाज के बारे में लिखा है– "हिन्दू लोग ऊपर से लात खाकर अपने शीश नवाते हैं और साथ ही साथ अपने से निम्न लोगों को लात मार देते हैं। वे कभी नहीं सोचते कि उन्हें ऊपर से लात मारने वालों का प्रतिरोध करना है अथवा दूसरों से बचना है।" पद्यानुक्रम जाति–पद्धति में विद्यमान यह मनोवैज्ञानिक प्रतिकार संतुलन के कारण ही अभी तक बना हुआ है। हालांकि इसे कई आक्रमणों का सामना करना पड़ा है जिसके कारण हमारे देश में अनेक घोर विपत्तियां आई हैं।

परन्तु प्रत्येक बुराई का निदान होता है, जाति का सरलता से उन्मूलन किया जा सकता है अथवा कम से कम उस विष को समाप्त किया जा सकता है, जो हमारे समाज में घुल गया है–यदि हमारे नेता ऐसा करने का दृढ़ संकल्प करें। इसका निदान अधिक सरल हैः प्रश्न केवल यही है कि क्या हम अपने व्यवसायों के प्रति ईमानदार हैं।

हमारी सामाजिक कमजोरियों अर्थात् धर्म, भाषाई अन्तर और जन्म पर आधारित जाति–प्रथा, जिसके कारण भारत शताब्दियों तक राजनीतिक रूप से गुलाम रहा है, की ओर ध्यान दिलाते हुए लेखक ने जाति–प्रथा को गुलामी का सबसे बड़ा कारण माना है। इस संदर्भ में लेखक ने २६ मई, १९५४ को पण्डित जवाहरलाल नेहरू को लिखा थाः

---

[3] किंग्सले डेविस, 'द पॉपुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंस्टन यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमेरिका, १९५१, पृष्ठ १६७

परन्तु खेद है कि हमने अभी तक कोई भी शिक्षा प्राप्त नहीं की। जाति की जातिप्रथा की भावना कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। इसका कारण स्पष्ट रूप से लोकतंत्र का उदय और काम–धंधों की छीना–झपटी है। इसने न केवल हमारे सार्वजनिक जीवन की उच्चतम पहुंच तक ही प्रहार किया है, अपितु सेवाओं को भी प्रभावित किया है।

इससे विभेद और अन्याय बढ़ता है, इससे विकृतियां बढ़ती हैं, आदमी के दिमाग और दिल में संकीर्णता आ जाती है, दोषारोपण और प्रतिदोषारोपण का दुष्चक्र पैदा हो जाता है और हमारे समाज में अविश्वास तथा संदेह की भावना भर जाती है। अभी हाल ही में यह राजनीतिक बैर का साधन भी बन चुका है।

प्रश्न यह है कि इस जाति–प्रथा का उन्मूलन किस प्रकार किया जाए? गौतम बुद्ध के समय से अब तक गुरुओं और सुधारकों ने प्रयत्न किए हैं लेकिन अभी तक कोई लाभ नहीं हुआ।

मैं एक सुझाव देने का साहस कर रहा हूं जिसकी मैं अपने ही क्षेत्र में गत छः वर्षों या इतनी ही अधिक अवधि से विनम्र तरीके से सिफारिश कर रहा हूं। आधुनिक जमाने में किसी भी व्यक्ति के जीवन में जाति उसी समय देखी जाती है जब उसका विवाह होता है। अतः इस बुराई को सफलता से दूर करना है, तो ऐसे कदम उठाने होंगे जो विवाह के समय जाति की संगतता अथवा विशिष्टता को समाप्त कर दें। इसका अर्थ यह है कि इस बुराई को जड़ से ही समाप्त करना होगा। सेवाओं में भरती करने वाले नियमों को बनाते समय हम सभी प्रकार की अहर्ताएं निर्धारित करते हैं, ताकि यह सुनिश्चित कर लिया जाए कि पद के अनुकूल केवल योग्य और उपयुक्त व्यक्ति को ही काम मिले। इन अर्हताओं में उम्मीदवार के मस्तिष्क और स्वास्थ्य पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है लेकिन उसके हृदय को मापने के लिए कोई परीक्षा नहीं रखी गई है, जिससे यह पता लगाया जा सके कि उसकी सहानुभूतियों का कितना विस्तृत आयाम है, क्या वह निष्पक्ष होकर काम कर सकेगा, क्या वह हृदय से इतना विशाल है कि उन सभी व्यक्तियों को संभाल सकेगा, जो उसके सरकारी कर्तव्यों के पालन में उसके सम्पर्क में आते हैं।

मेरे मत से हमारे देश की परिस्थितियों में यह परीक्षा अधिकांशतया उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है, यदि हमें ऐसे उम्मीदवारों की आवश्यकता है। कम से कम शुरू में राजपत्रित पदों पर काम करने वाले व्यक्तियों में यह परीक्षा की जानी चाहिए कि वे अपनी ही जाति की सीमित परिधि से बाहर अपने विवाह करें। ऐसा कानून बनाकर हम किसी को

भी उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिए बाध्य नहीं करेंगे, जैसा कि आज हम किसी भी व्यक्ति को ग्रेजुएट बनने पर बाध्य नहीं करते, जो आज कई सरकारी नौकरियों के लिए आवश्यक शैक्षिक अर्हता है। यह कठिन नहीं होगा कि इस प्रकार के युवकों को अधिक संख्या में खोज लिया जाय। आज हमारे कॉलेजों में अध्ययन करने वाले सभी युवक–लड़के और लड़कियां–इस कदम को उठाने के लिए तैयार हैं।

मैं विधायकों के लिए भी इस प्रकार की अर्हता रखना चाहूंगा। अलबत्ता, अन्तर–जाति में विवाह करने की अर्हता केवल उन्हीं विवाहों के सम्बंध में लागू की जायेगी, जो किसी निश्चित तारीख से, मानो १ जनवरी, १९५५ को अथवा उसके बाद सम्पन्न किए गए हैं। अविवाहित व्यक्तियों को नौकरी में या विधान सभा में आने की छूट होगी परन्तु यदि वह बाद में अपनी ही जाति में विवाह करेगा तो उसे इस्तीफा देना होगा। इसके अलावा केन्द्र सरकार के अधीन सेवाओं में विभिन्न भाषा–भाषी दल के उम्मीदवारों को ऐसे विवाह कर लेने पर वरीयता दी जायेगी। यह इसलिए भी वांछनीय है कि भाषावार राज्य स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस प्रकार के कानून से रूढ़िवादी लोगों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचेगी, क्योंकि हमारे शास्त्रों में अनुलोम विवाह की पवित्रता अक्षुण्ण है। इसका प्रभाव यह होगा कि हम आज की जाति को कई गोत्रों में परिवर्तित कर लेंगे–और व्यक्ति को अपने पिता के गोत्र में विवाह करने के लिए हतोत्साहित करेंगे।

यदि इस आशय का एक अनुच्छेद संविधान में जोड़ दिया जाय तो भारत की सबसे बड़ी सामाजिक बुराई और राजाजी की सूक्ति का प्रयोग करें, तो उनके शब्दों में भारत के प्रथम शत्रु को दस वर्षों की अवधि में समाप्त किया जा सकता है। देश कभी भी शक्तिशाली नहीं हो सकता जब तक कि जाति–प्रथा का उन्मलन न कर दिया जाये और यह बुराई तभी खत्म होगी, जब राज्य इसमें हस्तक्षेप करे और इस बुराई को उसके मूल से समाप्त कर दे, अन्यथा किसी दिन पारस्परिक अविश्वास और घृणा की आग, जिसे जाति–प्रथा ने शताब्दियों से सुलगा रखा है, देश को जलाकर भस्म कर देगी और यह तथ्य दिन के बाद रात आने के समान वास्तविक और सूक्ष्म है।

मुझे आशा है कि मेरा सुझाव आपको बेतुका नहीं लगेगा। मुझ जैसे व्यक्ति अनुभव से यह जानते हैं कि उन लोगों की अपेक्षा अन्य जातियों में जन्म लेने का क्या अर्थ होता है, जो विशेष व्यक्ति माने जाते हैं और जो अपने को विशेष व्यक्ति मानते हैं। इन जातियों में

जन्म लेने वाले व्यक्तियों को केवल जन्म के नाम पर ही तिरस्कृत व्यवहार मिलता है और उनके प्रति सामाजिक भेद–भाव किया जाता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि काफी लोग एक साथ ही धर्म परिवर्तन कर चुके हैं। यह स्थिति केवल उन्हीं व्यक्तियों की नहीं है, जो समाज के निचले स्तरों पर रहते हैं बल्कि अन्य लोगों में भी यही हुआ है....

इस प्रस्तावित संशोधन के लिए निश्चय ही बड़ा विरोध होगा परन्तु आप इस संशोधन को कराने के लिए कटिबद्ध हैं, तो यह विरोध कम समय में ही दूर हो जायेगा। इस स्थिति के बारे में मेरे अध्ययन के अनुसार इस प्रस्ताव का शिक्षित वर्गों में पर्याप्त स्वागत होगा जबकि हिन्दू कोड बिल के कल्पित प्रतिबन्धों को उतना स्वागत नहीं मिल पाया था।

चाहे कुछ भी बाधाएं क्यों न हों, यदि इस आधार पर संविधान में कोई भी संशोधन कर लिया जाता है, तो मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार हमारे देश की वैसी सेवा होगी जैसी कि स्वराज प्राप्ति से हुई थी। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, हमारे स्वामित्व की नींव सही अर्थों में नहीं पड़ेगी।

सादर
पं० जवाहरलाल नेहरू
भारत के प्रधान मंत्री
नई दिल्ली।

आपका
gå pj.k flg

पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस पत्र का जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है –

गोपनीय

कैम्पः द रिट्रीट
मशोब्रा, शिमला
२७ मई, १९५४

प्रिय चरण सिंह

आपके २२ मई के पत्र के लिए धन्यवाद।

आप जानते ही हैं कि मैं जाति–प्रथा को समाप्त करने पर अत्यधिक महत्त्व देता हूं। मेरा विचार है कि जाति–प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है। मैं आपसे सहमत हूं कि जाति प्रथा का तब तक अन्त नहीं होगा, जब तक कि अन्तर–जातीय विवाह

सामान्य रूप से सम्पन्न न होने लगें और उन्हें उसी प्रकार देखा जाए जैसे वे काफी सामान्य हैं। मैं इससे भी आगे कहना चाहूंगा कि हमारे देश में तब तक वास्तविक एकता नहीं होगी जब तक कि विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच विवाहों के प्रति हमारे पक्षपात समाप्त नहीं होते।

परन्तु जैसा कि आप कहते हैं कि हम संवैधानिक प्रतिबंधों से लोगों को बाध्य करने का प्रयत्न करें और ऐसे नियम बनाएं कि लोग अपनी जातियों के बाहर विवाह करने लगें–यह सुझाव मुझे ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधारभूत सिद्धांत का विरोधी है। विवाह काफी हद तक व्यक्तिगत मामला है और हम विवाह को अधिकाधिक व्यक्तिगत मामला बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं और हम चाहते हैं कि इसे पुरानी रीति–रिवाज तथा परम्पराओं से निकाल बाहर करें। आपने जो सुझाव दिया है, वह इस दृष्टिकोण को पीछे हटाने वाला है, यद्यपि इसका अर्थ वांछनीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना है।

हमें अन्यथा परिस्थितियां पैदा करनी हैं। स्पेशल मैरिज बिल इसी दिशा में एक कदम है। अन्य कदम भी बाद में उठाए जाएंगे। आखिरकार व्यक्ति उन्हीं व्यक्तियों से अपना विवाह करते हैं जो उनके विचार, रहन–सहन और तौर–तरीके के कुछ न कुछ अनुकूल हैं। वास्तव में अन्य किसी भी प्रकार से किया गया विवाह ठीक नहीं है और ऊपर से विवाह के लादे जाने से यह सम्भावना है कि कहीं विवाहित दम्पत्तियों के लिए यह विनाशकारी न सिद्ध हो। मैं स्वयं इस चयन के पक्ष में नहीं हूं कि विवाह को कानून द्वारा नियंत्रित किया जाय अथवा प्रलोभन देकर उन्हें सम्पन्न किया जाय।

श्री चरणसिंह
मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार
लखनऊ

भवदीय
tokgjyky ug:

नेहरू के उत्तर से यह विदित होगा कि वह व्यावहारिक आदर्श यथा अन्तर्जातीय विवाह को साकार करने हेतु कदम उठाने के लिए तैयार नहीं थे। जन सामान्य के बीच काम करने और सोचने की उनकी सामान्य–जन प्रवृत्ति के अनुरूप ही थी। उन्होंने यह स्वीकारा कि 'जाति–प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है' लेकिन उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को, जो इस समस्या का मूल है, कानूनी रूप प्रदान करने के लिए कोई भी कदम उठाने में यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि ऐसा करने से व्यक्तिगत चयन या स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को ठेस पहुंचेगी।

हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता सबसे बड़ी आवश्यकता है और उन्होंने भी इस सम्बंध में आवाज उठाई थी लेकिन फिर भी उन्होंने उस मुस्लिम लीग को राजनीति में कार्य करते रहने की अनुमति दे दी जो हमारे देश के विभाजन के लिए उत्तरदायी थी और १९६० में केरल राज्य में मुस्लिम लीग के साथ कांग्रेस की मिली–जुली सरकार बनाने की उन्होंने अनुमति दी थी। यह स्थिति फिर भी स्वीकार कर ली गई, जबकि ३ अप्रैल, १९४८ को कान्स्टीटुयेण्ट असेम्बली (लेजिस्लेटिव) ने एक संकल्प पारित किया था, जो इस प्रकार है–

> "चूंकि लोकतंत्र को उचित रूप से चलाने और राष्ट्रीय एकता तथा भाईचारे के विकास के लिए आवश्यक है कि भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता को समाप्त कर दिया जाये। अतः इस असेम्बली का यह मत है कि किसी भी साम्प्रदायिक संगठन को अपने संविधान द्वारा अथवा अपने अधिकारियों में से किसी अधिकारी और अपने विभागों में से किसी विभाग में विहित विवेकपूर्ण शक्ति के प्रयोग द्वारा धार्मिक कौम और जाति या इनमें से किसी आधार पर व्यक्तियों को सदस्य बना लेता है अथवा सहायता से अलग कर देता है, तो उसे समुदाय की प्रामाणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक आवश्यकताओं के लिए उन कार्यकलापों को छोड़कर किन्हीं अन्य कार्यकलापों में लगने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और विधायकी तथा प्रशासकीय जैसी सभी कार्रवाइयां की जा सकती हैं, जो इन कार्य–कलापों को रोकने के लिए आवश्यक हों।"

देश का विभाजन बहुत बुरा था। लेकिन हम जनता के एक बहुत बड़े भाग को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपने साथ रखने की बात सोच नहीं सकते थे–जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव में ऐसा कहा, जिसे उन्होंने १९४१ में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सत्र के लिए तैयार किया और उस समिति के समक्ष प्रस्तुत किया था। एम० ए० जिन्ना ने कांग्रेस के नेतृत्व की कमजोरी समझ ली थी और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वे अपनी बात पर अड़ जाएं तो वे उसे मनवा लेंगे।

नेहरू अपनी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनता से सम्बंधित समस्याओं के बारे में अपने प्रत्येक वक्तव्य को 'लेकिन', 'तथापि' अथवा 'यद्यपि' जैसे शब्दों का प्रयोग करके अभिव्यक्त करते रहे। बात यह नहीं थी कि वे किसी भी समस्या का, जो हमें ब्रिटिश राज्य के दिनों से विरासत में मिली थी, निराकरण करने के योग्य नहीं थे परन्तु उन्होंने कई ऐसी नयी समस्याओं को जन्म दिया, जिनका आज समाधान करना असम्भव–सा हो गया है।

फिर भी अंतर्जातीय विवाहों के प्रश्न को ही लिया जाए। इसमें 'ऊपर से थोपने' का कोई प्रश्न ही नहीं था, जैसा कि लेखक ने प्रस्ताव में कार्यान्वित करने के लिए कहा था। उदाहरणार्थ लेखक ने अपने पत्र में यह बताया था कि सरकार के बारे में यह नहीं किया जा सकता कि उसने किसी पर 'आरोपण' किया है, जबकि वह राज्य या अखिल भारतीय सेवा में भर्ती होने के लिए उम्मीदवार की पात्रता के सम्बन्ध में शारीरिक और शैक्षिक अर्हताओं को निर्धारित करती है। लेखक के प्रस्ताव का यह भी आशय नहीं था कि 'कानून द्वारा' 'विवाह के चयन पर नियंत्रण' लगा दिया जाए; और यह किसी भी न्यायशास्त्र के किसी भी न्याय द्वारा न तो स्वीकार्य है अथवा, न विचारणीय है। इस देश के कानूनी संग्रह में पहले ही कई प्रतिबन्ध या नियमन प्रावधान विवाह और तलाक के सम्बंध में विद्यमान हैं। हिन्दू विधि हजारों वर्ष पूर्व ही बनाई जा चुकी थी जिसमें यह विधान है कि कोई भी व्यक्ति अपनी सात पीढ़ियों तक अपने चचेरे, ममेरे या फुफेरे भाई–बहन से विवाह नहीं करेगा और जनता सरकार ने भी दो या तीन वर्ष पूर्व यह नियम बनाया था कि कोई भी भारतीय उस लड़की से विवाह नहीं करेगा जो १८ वर्ष से कम आयु की होगी। १९०१ की जनगणना रिपोर्ट, खंड १, भाग १, पृष्ठ ५३७ के अनुसार हिन्दुओं में २,३७८ जातियां थीं: कोई भी उम्मीदवार राजपत्रित सेवा अथवा विधानमंडल की सदस्यता के लिए अपने धर्म का पालन करते हुए शेष २,३७७ जातियों में से सरलता से अपना जीवन–साथी चुन सकता था।

आज पं० नेहरू और उनकी पुत्री, जो २ सितम्बर, १९४६ से भारत के भाग्य विधाता हैं, उनके द्वारा अपनाई गई नीतियों के अनुसार जातिवाद और साम्प्रदायिकता हमारी सामाजिक एकता के रास्ते में दो सबसे बड़े अवरोध हैं और इसीलिए हमारे देश की प्रगति नहीं हो पाई। विदेशी और अल्पसंख्यक लोगों के शासन से शताब्दियों बाद देश आजाद हुआ। अतः देश को एक सबल और स्पष्ट विचार वाले नेता की आवश्यकता थी, जो हमारे समाज के छिद्रों को भर सके और देश को एक सशक्त राष्ट्र बना सके। देश को ऐसे राजनीतिक दार्शनिक की आवश्यकता नहीं थी, जिसमें प्रशासन की क्षमता न हो और जिनके मत में विश्व एक ऐसी स्थिति पर आ गया है, जहां राष्ट्रीय सीमाओं की कोई संगतता नहीं रह जाती।

जवाहरलाल नेहरू ने लेखक के सुझाव के सम्बन्ध में जो उत्तर दिया है उसके पीछे वास्तविकता इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा हो, उसके बावजूद वह स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि जाति–प्रथा इतनी बड़ी बुराई है जिसका निदान प्रबल रूप से किया जाना चाहिए। उन्हें व्यक्तिगत सभाओं में उपस्थित रहने में किसी

प्रकार का कोई खेद नहीं था। यह बात स्वर्गीय श्री दुर्गादास दत्त, विख्यात पत्रकार के लेखों में से एक लेख के निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट है, जिन्हें 'इंसाफ' के छद्म नाम से वे पॉलिटिकल डायरी के रूप में प्रेस को प्रकाशन हेतु बराबर भेजा करते थेः

'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली
दिनांक २९ मार्च, १९५५
इंसाफ की पॉलिटिकल डायरी

> प्रधानमंत्री ने रक्षामंत्री के निवास पर अपने समुदाय के नववर्ष दिवस के आयोजन पर कश्मीरी पंडितों के एक दल में शामिल होकर कोई एक अच्छी परम्परा स्थापित नहीं की। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि उनके जाति–भाइयों की जातिवादिता के सम्बंध में विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में लोग क्या–क्या चर्चा करते हैं।

श्री दुर्गादास दत्त ने उनके 'जाति–भाइयों की जातिवादिता' की अभिव्यक्ति से वस्तुतः यह कहना चाहा है कि नेहरू की कमजोरी अथवा प्राथमिकता देने का प्रत्यक्ष उपसिद्धान्त यह था कि कश्मीरी पंडितों को सरकारी सेवाओं में भर्ती किया जाए और उनकी तैनाती की जाए। जब विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में की गई चर्चा की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया, तो उन्होंने यह कहा कि "आप जिस शैतान को जानते हैं, वह शैतान उस शैतान से कहीं अच्छा है, जिसे आप बिल्कुल भी नहीं जानते।"

इस बात का निष्कर्ष दिया जाए अथवा इस बात को दुहराया जाए। हमारे देश को एक बार फिर महान और शानदार बनाने के सभी प्रयत्न और योजनाएं ऐसी होनी चाहिए जिनसे गरीबी मिट जाए, बेरोज़गारी समाप्त हो जाए और आर्थिक असमानताओं की खाई को पाट दिया जाए। यह सभी केवल व्यर्थ ही रहेगा, जब तक हमारे देश के लोग काम करने के लिए तैयार नहीं हैं और आत्म निर्भरता की भावना बनाने के लिए उद्यत नहीं हैं और वे ऐसा तब तक नहीं करेंगे जब तक कि वे यह महसूस न कर लें कि विश्व वस्तुतः अधिक यथार्थवादी है और मनुष्य अधिकांशतया अपने भाग्य का स्वयं विधाता है और जब तक वे यह न जान लें कि शारीरिक श्रम उतना ही नेक है, जितना बौद्धिक कार्य नेक होता है और उन्हें यह भी जानना है कि जन्म से सभी व्यक्ति समान होते हैं।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार, १९४१. (२०१ पृष्ट)

हाउ टू एबोलिश जमींदारीः ह्विच एल्टरनेटिव सिस्टम टू एडाप्ट। (ज़मींदारी उन्मूलन कैसे करें: किस वैकल्पिक प्रणाली को अपनाएं) १९४७. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

एबोलिशन ऑफ ज़मींदारीः टू अल्टरनेटिव्ज। (जमींदारी उन्मूलनः दो विकल्प) १९४७. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (२६३ पृष्ट)

एबोलिशन ऑफ जमींदारी इन यू० पी०: क्रिटिक अंसरड। (उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलनः आलोचकों को जवाब) १९४९. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

व्हितहर कोआपरेटिव फार्मिंग? (सामूहिक खेती की दिशा?) १९५६. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश।

एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन उत्तर प्रदेश। (उत्तर प्रदेश में कृषि क्रांति) १९५७. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश १९५८ लखनऊ, सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश। (६६ पृष्ट)

जॉइंट फार्मिंग एक्स–रैडः द प्रॉब्लम एंड इट्स सोल्यूशन। (संयुक्त खेतीः समस्या और समाधान) १९५९. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (३२२ पृष्ट)

इण्डियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन। (भारत की गरीबी और उसका समाधान) १९६४. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई। (५२७ पृष्ट)

इण्डियन इकोनॉमिक पॉलिसीः दि गांधियन ब्लूप्रिंट। (भारत की अर्थनीतिः एक गांधीवादी रूपरेखा) १९७८. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (१२७ पृष्ट)

इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इण्डियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर। (भारत की भयावह आर्थिक स्तिथिः कारन एवं निदान) १९८१. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (५९८ पृष्ट)

लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स। (उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार एवं कुलक वर्ग) १९८६. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (२२० पृष्ट)

'विशिष्ट रचनाएंः चौधरी चरण सिंह' भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री चरण सिंह द्वारा १९३३ और १९८५ के बीच लिखित २२ महत्वपूर्ण लेखों और भाषणों का संग्रह है। इस पुस्तक के अध्ययन से आज का पाठक वर्ग जान सकेगा कि मौजूदा समय की चुनौतियां न तो नई हैं और न ही समाधानहीन। इनसे निपटने के लिए एक मन–सोच अथवा जिगरा चाहिए, जो निश्चय ही धरा–पुत्र चरण सिंह में था। उनका लेखन उस प्रकाशस्तंभ की तरह है जो समुद्र में भटके हुए जहाजों को किनारे तक आने का रास्ता दिखाता है। उनके लेखन के आलोक में हम मौजूदा चुनौतियों को सही परिप्रेक्ष्य में न केवल समझ सकते हैं अपितु उनका समाधान भी पा सकते हैं। इन लेखों में उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन लेखों को सामाजिक लेखन, आर्थिक लेखन, राजनीतिक लेखन एवं उपसंहार – चार खण्डों में विभाजित किया गया है।

चौधरी चरण सिंह की अध्यात्मिक अंतश्चेतना और राजनीतिक मेधा महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गांधी से अनुप्रेरित रही, तो सरदार पटेल उनके नायक रहे। इन विभूतियों पर चौधरी साहब ने अपने विचार लेखों में प्रस्तुत किये हैं। जाति–प्रथा, आरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण, राष्ट्रभाषा जैसे सामाजिक मुद्दों के साथ ही शिष्टाचार जैसे विरल विषय पर भी दो लेख **खण्ड एकः सामाजिक लेखन** में दिये गये हैं।

चौधरी साहब भारत की उन्नति का मूल आधार कृषि, हथकरघा और ग्रामीण भारत को मानते थे। उनकी दृष्टि में ग्रामीण भारत ही वह नियामक तत्व रहा जिसे प्रमुखता देकर देश को आर्थिक रूप से सशक्त बनाया जा सकता है, साथ ही बेरोजगारी जैसी विकट समस्या को भी दूर किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में भूमि सम्बंधी सुधारों और जमींदारी समाप्त करने को लेकर चौधरी चरण सिंह पर धनी किसानों के पक्षधर होने के आरोप विरोधियों ने लगाये। उनका उन्होंने बेहद तार्किक ढंग से उत्तर दिया है। गांव–किसान और खेती के प्रति उपेक्षापूर्ण नीतियां एवं काले धन की समस्या जैसे तथा उपरोक्त विषयों पर केन्द्रित लेख **खण्ड दोः आर्थिक लेखन** के अन्तर्गत दिये गये हैं।

खण्ड तीनः राजनीतिक लेखन के अन्तर्गत भारत की लम्बी गुलामी के मूल कारणों का विश्लेषण, गांधी–चिंतन, देश में पहली गैर–कांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार की आधारभूत नीतियां, देश विख्यात माया त्यागी कांड का समाजशास्त्रीय विश्लेषण, भाषा आधारित राज्यों के खतरे आदि मुद्दों के अलावा उनके नायक सरदार पटेल की स्मृति पर आधारित लेख हैं। इसी खण्ड में चौधरी साहब के ऐतिहासिक महत्व के दो भाषण भी संकलित हैं, जो लोकशाही पर संकट और राष्ट्रीय विघटन के खतरों के प्रति सचेत करते हैं।

अंतिम **खण्ड चारः उपसंहार** है, जिसमें चौधरी साहब ने राजनीति, समाज नीति और देश से सम्बंधित अधिकतर मुद्दों पर संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

Charan Singh Archives
www.charansingh.org

मूल्य ₹६६